International Journal of Research in Hindi
www.hindijournal.in
ISSN: 2582-3493; Impact Factor: RJIF 5.46
Received: 25-02-2020; Accepted: 15-03-2020; Published: 29-03-2020
Volume 2; Issue 1; 2020; Page No. 12-16

आदिवासी विमर्श और हिंदी उपन्यास

प्रीति अग्रवाल
रिसर्च एसोसिएट, P.G.D.A.V कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

प्रस्तावना

आदिवासी शब्द से तात्पर्य हैः आदिवासी, वनवासी आदिम या जंगली। सामान्य धारणा है कि आदिवासी, असभ्य, बर्बर, राक्षस, असुर और हिंसक होते हैं, वे जन्मजात शिकारी होते हैं। ऐसा माना जाता है कि उनका व्यवहार अमानवीय होता है। हम यह भूल जाते हैं कि आदिवासी भारत के मूल निवासी हैं। इनकी अपनी निजी मान्यताएं, परंपराएं, और आस्थाएं हैं। वे प्रकृति की देवताओं की तरह पूजा करते हैं। जमीन, जंगल और जल को ही अपना सर्वस्व समझते हैं। बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में नए सामाजिक आंदोलनों का उभार हुआ। दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों ने शोषण और भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष किया और मुक्ति का सामूहिक अभियान चलाया। कोई भी सामाजिक आंदोलन अचानक किसी तिथि विशेष से प्रारंभ नहीं हो जाता बल्कि उसके उद्भव के पीछे एक लंबा इतिहास होता है। भारत में 1919 के बाद नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण और उत्पीड़न की प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरुप ही आदिवासी विमर्श और लेखन की शुरुआत हुई। ऐसा नहीं है कि आजादी से पहले आदिवासियों के जीवन में समस्याएं नहीं थी, समस्याएं पहले भी थी जैसे वनोपज पर प्रतिबंध, तरह–तरह के लगान, महाजनी शोषण और पुलिस और प्रशासन के अत्याचार। आजादी के बाद भारत सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल ने आदिवासियों से उनके जल, जंगल और जमीन छीनकर उन्हें बेदखल कर दिया। विस्थापन उनकी एक विकट समस्या बन गई है। पिछले कुछ दशकों में दुनिया भर में ऐसी परिस्थितियों निर्मित हुई हैं लगभग हर जगह के आदिवासियों ने स्वयं को शोषित और अपमानित कहलवाना शुरू किया है। भारत की केंद्रीय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने बाजारवाद का रास्ता खोल दिया। पूंजीवाद के विस्तार के साथ–साथ उदारवादी नीतियों के चलते आदिवासियों के जंगल, जल, जमीन उनसे छीने जाने लगे। आज आदिवासियों के सामने दो ही रास्ते बचे हैं या तो वह अपनी अस्मिता अपना अस्तित्व भूलकर 'मुख्यधारा' की वर्चस्ववादी संस्कृति में निम्नतर दर्जा स्वीकार कर ले या धरती से अपना अस्तित्व मिट जाने के लिए अभिशप्त हो जाएं। पेरू के माची ग्वेकाओ या झारखंड के बिरहोर, शबर, कोरबा, असुर या राजस्थान के सहरिया आदिवासी की संख्या में लगातार गिरावट दर्ज आ रही है। अंडमान और निकोबार दीप समूह के जारवा और आंजे समुदाय को चिड़ियाघर में बंद वन्य जंतुओ की तरह पर्यटन और विस्मय की वस्तु बना दिया गया है। उनको केले और बिस्कुट देकर उनके साथ फोटो खिंचवायें जाते हैं। आदिवासी लेखन मैं जहां एक और अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त कर समाधान ढूंढने की चेष्टा है वहीं दूसरी तरफ अपने संसाधनों पर कब्जा जमाने के सर यंत्रों के विरुद्ध विरोधी है। आदिवासी आज अपने अस्तित्व के प्रति सजग हो गए हैं। नई नई विचारधाराओं और क्रांतियों से उसका परिचय हो रहा है। अंग्रेजों के जमाने से ही आदिवासी अस्मिता का आंदोलन शुरू हो गया था। इसी प्रकार झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र में भी यह आंदोलन जोर पकड़ने लगा था। बाबा साहब अंबेडकर ने भी आदिवासी समस्याओं की ओर सबका ध्यान खींचा था और संविधान बनाते समय इनके संरक्षण व आरक्षण का प्रावधान किया था। आदिवासियों का शोषण केवल बाहरी शक्तियों ने ही नहीं बल्कि भारत के आंतरिक उपनिवेशवादियों ने भी उनका शोषण अधिक किया। आदिवासी अपनी जमीन रोजगार के साधन छीने जाने के साथ–साथ भारत सरकार द्वारा उनके प्रत्येक की गई उपेक्षा के खिलाफ भी आवाज उठा रहे हैं। आदिवासी लेखन बहुमुखी व्यापक और यथार्थ परक हैं। यह प्रतिबद्ध लेखन है जिसका लक्ष्य समाज और मानव का कल्याण है। आदिवासी साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। यह साहित्य सीधे मन पर चोट करता है। यह साहित्य मन को बहलाता नहीं बल्कि मानसिकता बदलने का प्रयास करता है। आदिवासी विमर्श अपनी पहचान, अपने आत्मसम्मान ,अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए चिंतित नजर आता है। सभ्य समाज के मन में यही धारणा बनी हुई है कि आदिवासी बर्बर और हिंसक होते हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि भी बेहद निश्छल, निरीह और आत्मकेंद्रित सशंकित प्राणी है। आदिवासी पद मे 'आदि' उन समुदायों के आदिम युग के इतिहास का घोतक है। आर्यों के आने से पूर्व भारत के घने जंगलों, घाटियों, पहाड़, पर्वतों पर आदिवासी अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे। फल फूल, लकड़ी, शिकार के लिए उसे किसी से स्वीकृति नहीं लेनी पड़ती थी। सैकड़ों वर्ष बीत जाने के बाद भी आज भी अधिकांश आदिवासी जंगलों और वनो में रह कर अपना जीवन यापन कर रहे हैं।

हिंदी में आदिवासी विमर्श एक कमजोर स्थिति में हैं। आदिवासी विमर्श करने के लिए आदिवासियों के बारे में जानना आवश्यक है। आदिवासियों के बारे में जानने के लिए उनके बीच जाना जरूरी है। बिना आदिवासियों को गहराई से समझें जो आदिवासी साहित्य लिखा जाता है वह सतही साहित्य ही लगता है। आदिवासी समाज की आत्मा वहां नहीं मिलती आदिवासी विमर्श में आदिवासियों के जंगल, जमीन, विस्थापन के अतिरिक्त दूसरे मुद्दे भी हैं जैसे आदिवासी संस्कृति का सवाल, उनके धर्म का सवाल तथा आदिवासियों की भाषा। रामदयाल मुंडा ने आदिवासियों के धर्म का सवाल उठाया है। हमारे संविधान में धर्म का अधिकार दिया गया है क्या आदिवासियों को अपने धर्म पर विश्वास है? क्या उनके धर्म को मान्यता दी गई है ऐसे अनेक सवाल हमारे सामने खड़े हैं। सुनीति कुमार चटर्जी ने भविष्यवाणी कर रखी है कि आदिवासी भाषा दो तीन सौ सालों में खत्म हो जाएंगी। क्या आदिवासी भाषा के बिना अपनी संस्कृति बचा कर रख सकेंगे। दलित विमर्श नया है लेकिन आदिवासी विमर्श की परिपाटी पुरानी है। इसकी सशक्त वाचिक परंपरा रही है और अब लेखन के धरातल पर उतर रही है। आज भी आदिवासी समाज का एक बड़ा हिस्सा अशिक्षित और अभावग्रस्त है।

पिछले दो दशकों में झारखंड क्षेत्र के लेखकों ने हिंदी जगत में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है। आदिवासी समुदाय के लोग भी अपने जीवन संघर्षों स्थितियों का चित्रण कर रहे हैं। समकालीन हिंदी

उपन्यासकार भी आदिवासी जीवन को व्यक्त कर अपने उपन्यासों के माध्यम से आदिवासी अस्मिता को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं। बाजारवाद के कारण आदिवासी की संस्कृति भी खतरे में पड़ी हुई है, साथ ही उनकी पहचान भी। इसी बाजारवादी मानसिकता ने आदिवासियों को भी प्रदर्शन की वस्तु बनाकर कमाई के जरिए में तब्दील कर दिया है। समकालीन हिंदी उपन्यासकार 'दिकुओं' और उनके षडयंत्रों से आदिवासी समाज को सावधान करता है। आदिवासी विस्थापन की समस्या से जूझ रहा है। कोई साधन शेष न रह जाने के कारण वह प्रतिरोध के लिए विवश है। सरकार भी इस प्रतिरोध से विवश होकर उन्हें नक्सलवादी घोषित करने पर अमादा है। समकालीन हिंदी उपन्यासकार आदिवासियों के मानसिक और शारीरिक शोषण का चित्रण तो करता है करता ही है लेकिन साथ ही साथ आदिवासियों की अस्मिता के संकट को भी चित्रित करता है। आज का आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श है। आदिवासी साहित्य में विद्रोह है, वेदना है, अभिव्यक्ति है, साथ ही साथ में आदिवासियों के सर्वांगीण विकास के प्रश्न को लेकर ललकार भी है। आज आदिवासी अपने को छला हुआ मानने लगे हैं। वे स्वयं को विकास की मुख्यधारा से वंचित और समाज का बहिष्कृत हिस्सा मानने लगे हैं। आज आदिवासी विमर्श में आदिवासियों की परंपरा, रूढ़ियों, संस्कृति, अन्याय, अत्याचार, शोषण सभी का बयान हो रहा है। आदिवासी साहित्य आदिवासियों को उनकी हीनता ग्रंथि से मुक्त कराने का हथियार है। उनकी चेतना को जागृत करने का मुख्य स्रोत है।

संजीव का उपन्यास 'जंगल जहां शुरू होता है' चंपारण, जैसे मिनी चंबल भी कहा जाता है, की गाथा है। थारू समाज किस प्रकार अपनी रूढ़ियों, कुरीतियों और अंधविश्वासों में उलझा हुआ है इसका सजीव चित्रण उपन्यास में प्रस्तुत है। पुलिस, डाकू, नेता सभी के शोषण चक्र में पिसने को बाध्य है थारू समाज। चंपारण में अपराध, हत्या, डकैती, अपहरण अपना अस्तित्व स्थापित किए हुए हैं। संजीव ने दिखाया है कि 'थारू जाति' के लोग अमन पसंद और कोमल ह्रदय वाले होते हैं लेकिन फिर भी जंगल पर राज करने वाले शासक अनेक प्रकार से इन्हें शारीरिक और मानसिक यंत्रणाएँ देते हैं। शोषण इन्हें गलत रास्ते पर जाने को बाध्य करता है। थारू जाति के लोग तांत्रिकों, देवी–देवताओं के माध्यम से अपनी समस्याएं सुलझाना चाहते हैं।

वशिष्ठ कथाकार संजीव का उपन्यास 'पांव तले की दूब' झारखंड के आदिवासियों के अस्तित्व और अस्मिता के इर्द–गिर्द विकसित और गुंफित हैं। उपन्यास का शीर्षक ही आदिवासियों की स्थिति को स्पष्ट कर देता है। 'पांव तले की दूब' जिसे हम बिल्कुल सहजता और बिना संकोच के कुचलते हुए जाते हैं और इस कुचलने का कोई अपराध बोध भी नहीं होता। संकट तब खड़ा होता है जब कभी यह दूब हमारे पांवों में चुभ जाती है और हमारे मुलायम चेहरे पर उभरे विचलन के साथ ही 'होने' का भी एहसास होता है। उपन्यास की कथा का केंद्र सुदीप्त नाम का नौजवान है। मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आया यह नौजवान झारखंड आंदोलन का एक समर्पित और निष्ठावान कार्यकर्ता बनता है। झारखंड आंदोलन की विफलता और पथभ्रष्टता उसको अकेलेपन और अवसाद में डाल देती है। वह एन०टी०पी०सी० में इंजीनियर की हैसियत से अपने कार्यक्षेत्र में वापस लौट जाता है। लौटकर उसे पता चलता है कि हालत और भी खराब हो गई है। आदिवासियों का शोषण करने वाली व्यवस्था मजबूत हो रही है और आंदोलन क्षीण होता जा रहा है वह प्रतिरोध करता है और निराश होकर पलायन कर जाता है और अज्ञातवास में चला जाता है। सुदीप्त कोई उम्मीद न देखकर आत्महत्या कर लेता है। उपन्यास की कथा कहने वाले दो लोग हैं – एक सुदीप्त स्वयं और दूसरा उसका मित्र समीर जो मुंबई से निकलने वाली एक पत्रिका का संपादक है। जो उसकी चिट्ठी पर उसकी तलाश में पंच पहाड़ आता है वह अंधेरी गुफा में उसे सुदीप्त की आत्मकथ्य मिलते हैं, और गुफा के ऊपर उसका कंकाल। झारखंड के आदिवासी समुदायों की अस्मिता उनकी पहचान, उनकी राष्ट्रीयता उपन्यास के केंद्र में है। यह उपन्यास आदिवासी समाज की आंतरिक समस्याओं की भी जांच परख करता है। आदिवासी समाज की कुप्रथाएँ जैसे डायन घोषित करके महिलाओं को मार डालने की प्रथा या झाड़–फूँक और शराबखोरी पर भी उपन्यासकार ने सख्त टिप्पणी की है। उपन्यास के पात्र सुदीप का पलायन भी सहज पलायन नहीं था। वह भ्रष्ट और बिके हुए आंदोलनों का सहज व्यक्तिगत प्रतिकार भी है। 'पांव तले की दूब' झारखंड राज्य बनने के पहले लिखा गया था लेकिन आज झारखंड राज्य बनने के बाद भी समस्या समस्याएं ज्यों की त्यों पड़ी हुई हैं। आदिवासियों की आदिम संपत्ति जल–जंगल, जमीन को सत्ता के ठेकेदार लगातार कॉर्पोरेट के हाथों में सौंप रहे हैं।

संजीव का उपन्यास 'धार' एक वास्तविक क्षेत्रीय घटना पर आधारित है। इस उपन्यास में मैना के माध्यम से आदिवासियों के शोषण और किस प्रकार आदिवासी गलत काम करने को विवश है, पर लेखक ने प्रकाश डाला है।

यह सही है कि आज का युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है। भारत एक उभरती हुई शक्ति के रूप में अपनी पहचान बना रहा है। लेकिन आदिवासी समाज गर्त में धँसता जा रहा है।

संजीव का उपन्यास 'धार' झारखंड राज्य के आदिवासी जीवन और संथाल परगना समाज पर आधारित है। संथाल परगना समाज के सपने, उनकी समस्याओं और उनके शोषण और संघर्ष को कथा में अभिव्यक्त किया गया है। उपन्यास का आरंभ जेल की घटना से होता है, जहां एक कैदी स्त्री जेल में जन्म लिए बच्चे को छोड़कर चली जाती है। लेकिन मेजर द्वारा जब वह बच्चा जेल की एक कैदी मंगार को सौंपा जाता है तो वह बच्चे को अपनाने को विवश हो जाती है। यह स्त्री मैना है, जो आदिवासी समाज की है। मैना एक सबल पात्र के रूप में हमारे सामने आती है। वह वर्चस्ववादी शक्तियों के खिलाफ संघर्ष करती है। इस संघर्ष में वह अपनों और परायों दोनों से अकेली लड़ती है। वह बाँसगड़ा अंचल से तेजाब की फैक्ट्री हटाने को कटिबद्ध होती है। उसे अपना परिवार त्यागना पड़ता है, जेल जाना पड़ता है। वह महेंद्र बाबू जैसे कपटी और स्वार्थी लोगों का मोहरा बनकर रह जाती है। महेंद्र बाबू एक तरफ आदिवासी लोगों को बनाकर फैक्ट्री लगवाता है, वह भी तेजाब की। वह लोगों को समझाता है कि यह फैक्ट्री लोगों की भूख मिटाएगी।

रणेन्द्र के उपन्यास 'ग्लोबल गांव का देवता' में लेखक ने दिखाया है कि बहुराष्ट्रीय कंपनी कैसे आदिवासियों को उनकी जमीन से बेदखल कर रही हैं। रणेन्द्र ने दिखाया है कि आदिवासियों का निरंतर शोषण हो रहा है। यूरेनियम, बॉक्साइट, तांबे और जंगल की जमीन को हड़पने के लिए उन पर अनेक अत्याचार हो रहे हैं। बॉक्साइट के लिए आदिवासियों की बस्तियों, उनके घरों को उजाड़ा जा रहा है। इनको इतनी मजदूरी भी नहीं मिलती कि ये परिवार का भरण पोषण भली प्रकार कर सकें।

वेदांग जैसी विदेशी कंपनी देशी नाम से कैसे आदिवासियों का शोषण करती है, कैसे प्राकृतिक धरोहर का नाश करती है। कैसे अपने स्वार्थ के लिए आदिवासियों को नक्सली बताकर उन पर केस ठोका जाता है, उन्हें प्रताड़ित किया जाता है, इन सब का सजीव चित्रण उपन्यास में वर्णित है। रणेन्द्र ने इस उपन्यास में आदिवासियों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक विविध पहलुओं पर हो रहे शोषण के साथ इस ग्लोबल सोच को भी दिखाया है कि आदिवासी समाज अपने संघर्ष को नहीं छोड़ता। वह निरंतर संघर्ष करता रहता है। रणेन्द्र ने इस उपन्यास में असुर समुदाय के ऐतिहासिक सांस्कृतिक पहचान को उद्घाटित किया है।

राकेश कुमार सिंह के उपन्यास 'पठार पर कोहरा' में मुंडा आदिवासियों की पीड़ा वर्णित है। उपन्यास का नामकरण भी यही कहता है कि अभी

भी पहाड़ों पर समस्याओं का कोहरा छाया हुआ है। आजादी के बाद भी इनके हालात कुछ सुधरे नहीं है।

मुंडा जाति के शोषण, उत्पीड़न और अभाव के वास्तविक चित्र हमें इस उपन्यास में मिलते हैं। यह उपन्यास मात्र शोषण की बात ही नहीं करता बल्कि शोषण के विरुद्ध आवाज भी उठाता है। आजादी के बाद एक नए शोषक हमारे सामने आए वह है– साहू, बाबू और बंदूक की संस्कृति। आज भी एक निर्धन आदिवासी बेगारी में खटता हुआ कर्ज में मर जाता है।

भगवान दास मोखाल का उपन्यास 'रेत' हरियाणा की कंजर जनजाति पर आधारित है। कंजर शब्द का अर्थ है काननचर यानी जंगल में घूमने वाला। सामान्य तौर पर कंजरों को चोरी करने वाली जनजाति समझा जाता है। उपन्यास जहां एक ओर आदिवासी विमर्श की महत्वपूर्ण कृती है वहीं आदिवासी स्त्री विमर्श की दृष्टि से भी यह एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह उपन्यास कंजरो के पुलिस प्रशासन और अफसरों द्वारा हो रहे शोषण को व्यक्त करता है। इस उपन्यास में आदिवासी समाज में स्त्री की नई चेतना को भी अभिव्यक्त किया है।

श्रीमती अजीत गुप्ता का उपन्यास 'अरण्य में सूरज' राजस्थान की भील जनजाति के जीवन पर आधारित है। इस उपन्यास में आदिवासियों की बाल विवाह, एड्स, बेरोजगारी, अंधविश्वास, शोषण, विस्थापन, अशिक्षा आदि समस्याओं को अभिव्यक्त किया है।

रणेन्द्र ने अपने उपन्यास 'गायब होता देश' में मुंडा जाति की संस्कृति, उनका इतिहास, उनके प्रकृति प्रेम और उनके छल से लूटने वाले पूंजीपतियों और रियल इस्टेट के माफिया को अपनी कथा का केंद्र बनाया है।

इस उपन्यास में रणेन्द्र ने दिखाया है कि पहले आदिवासियों को अनेक प्रलोभन, लालच देकर फँसाया जाता है और धीरे–धीरे विकास के नाम पर उनके जल, जंगल, जमीन पर कब्जा कर लिया जाता है और उन्हें तड़पने के लिए छोड़ दिया जाता है। अनुज लगुन द्वारा झारखंड के मुंडा आदिवासियों को केंद्र में रखकर लिखा गया यह उपन्यास (गायब होता देश) संपूर्ण आदिवासी समाज के संकट की ओर ध्यान खींचता है। पूंजीवादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस तरह घास की तरह एक मानव समुदाय को चरते जा रहे हैं 'गायब होता देश' इसकी मार्मिक कहानी है। रणेन्द्र ने यह उपन्यास बाबा राम दयाल मुंडा की स्मृति और दीदी दयामनी बारला और इरोम शर्मिला चानू के संघर्ष के जज्बे को समर्पित किया है। इस उपन्यास के पात्र सोमेश्वर मुंडा, नीरज पाहन, अनुजा पाहन, सोनामनी पूंजीवादी शोषकों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। आलोचक प्रणय कृष्ण श्रीवास्तव लिखते हैं कि 'गायब होता देश' के रचनाकार रणेन्द्र की उपन्यास यात्रा का समय वही है जिसे सामान्य रूप से भारत के भूमंडलीकरण का समय कहा जाता है। यह अनेक उपन्यासों के रचे जाने का भी समय है। यह उपन्यास बहुत जतन से हमारे युग की भूमंडलीय लूट के केंद्रीय अंतर्विरोध और संघर्ष के खंडित समाजशास्त्रीय, मानव शास्त्रीय (एंथ्रोपॉलोजिकल), प्रशासनिक या निकट वैचारिक भाष्य का अतिक्रमण करके ही उपन्यास बनता है। वे लिखते हैं कि उपन्यास के शीर्षक और उसके आखिरी घटना सत्य में एक जबरदस्त द्वंद्व है। शीर्षक में जो 'गायब होता देश' है, उपन्यास का अंत होते–होते वही अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए लड़ता हुआ, बल्कि छोटी–छोटी ही सही जीत हासिल करता हुआ देश है। लेखक लिखते हैं कि मुंडाओं का देश पहले (सोना जैसा देश) था लेकिन विकास के झूठे प्रलोभनों ने उनका आशियाना उजाड़ दिया।

रणेन्द्र ने इस उपन्यास में आदिवासी जीवन का सजीव चित्रण किया है। आदिवासियों को लेकर लेखक का सूक्ष्म चिंतन इस उपन्यास की विशेषता है। इस उपन्यास में सरकारी तंत्र की कूटनीति और मीडिया के दोहरे चरित्र पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है।

महुआ माजी के उपन्यास 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में लेखक ने यही दिखाया है कि किस प्रकार मरंग गोड़ा (मूलतः जादूगोड़ा) प्रकृति के लगातार दोहन से नीलकंठ हो गया है। यहां के घने जंगल, गगनचुंबी वृक्ष, नदियाँ सभी यूरेनियम के कारण प्रदूषित हो गए हैं। लेखक कहते हैं –

"(1) यूरेनियम खदानों ने हमारी बहुमूल्य संपत्ति छीन ली हमसे। अब हमारे पास खोने के लिए कुछ नहीं बचा है। हम आदिवासियों के पास तो संपत्ति के नाम पर होती है शुद्ध हवा, हरे–भरे स्वस्थ पेड़, स्वच्छ पानी, जंगलों से ढके पहाड़, पंछी, जानवर, जंगली फूल फलों के पेड़....। अब सब खत्म हो रहा है। इनके साथ–साथ हमारी संस्कृति भी नष्ट हो रही है। (1)"

लेखक ने दिखाया है कि मरंग गोड़ा से निकली पीली धूल वहां के लोगों को बीमार करती रही, विचित्र बच्चों का जन्म होने लगा लेकिन भोले भाले अशिक्षित आदिवासी उसे डायन का प्रभाव या ईश्वरी प्रकोप ही समझते रहे।

लेखिका ने उपन्यास में यही चिंता व्यक्त की है कि आदिवासियों को मिले मुआवजे से जो नुकसान हुआ होता है प्रदूषण के रूप में, उसके दुष्परिणाम भयावह होते हैं। यह प्रदूषण धीरे–धीरे आदमी को भीतर से खत्म करता जाता है।

इस उपन्यास में लेखिका ने आदिवासियों के संघर्ष और विदेशी कंपनियां द्वारा किए जाने वाले शोषण को कथा का केंद्र बनाया है। मछली पानी के बिना नहीं रह सकती, वैसे ही आदिवासी जंगल के बिना नहीं रह सकते हैं। इस उपन्यास में लेखिका एक्टिविस्ट बनकर यूरेनियम खदानों और जंगल में विचरण करती है। महुआ मांझी ने रेडियेशन के खतरनाक प्रभावों को बड़ी संजीदगी से चित्रित किया है। उपन्यास का कथानक भी बड़ा आकर्षक है। समुद्र मंथन के समय शिवजी ने पृथ्वी के कल्याण के लिए विष पिया था जिससे उनका कंठ नीला हो गया था और शिव जी को नीलकंठ कहा जाने लगा इसी प्रकार मरंग गोड़ा ने भी देश के विकास के लिए खदानों से निकलने वाले विकिरण और प्रदूषण को शिवजी की भांति पी लिया है और मरंग गोड़ा नीलकंठ हो गया है। आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा का अभाव है। आदिवासियों में भी गोनोंग प्रथा का प्रचलन है। गोनोंग लड़की के पिता द्वारा दिया जाने वाला दहेज है। गोनोंग के कारण पिता अपनी बेटी का ब्याह दुगनी उम्र के व्यक्ति से कर देता है जिसके कारण लड़की का जीवन कष्टों से ही भरा रहता है। आदिवासी स्त्री की जिंदगी को नरकीय बनाने वाली दूसरी प्रथाएं हैं डायन प्रथा और लड़कियों को अपशगुन मानना। उपन्यास में लेखिका ने दिखाया है कि प्रदूषण और विकिरण से होने वाली बीमारियों और मौतों का इल्जाम 'सगेन की ताई' पर लगाया गया। उसे डायन माना जाने लगा और उसे मारने तक का प्रयत्न किया गया। आदिवासी समाज में अपशगुन का कारण भी हमेशा लड़कियों को ही माना जाता है और कुत्ते से शादी करवाकर उनका अपशकुन उतारने का रिवाज है। लेखिका ने इस उपन्यास में जिस समस्या का प्रमुखता से चित्रण किया है वह केवल मरंग गोड़ा के आदिवासियों की समस्याएं नहीं है बल्कि यह उन सभी आदिवासियों की समस्याएं हैं जिनके क्षेत्र का प्रयोग विकास के नाम पर किया जा रहा है। विकास के नाम पर कैसे आदिवासियों के जीवन में जहर घोला जा रहा है। उन्हें आने वाले खतरों से सावधान तक नहीं किया जाता। वे भोले, अशिक्षित, अज्ञानी, आदिवासी यह जान भी नहीं पाते कि उन्हें कितने भयंकर परिणाम भुगतने होंगे।

उड़िया उपन्यासकार प्रतिभा राय द्वारा रचित उपन्यास है 'आदिभूमि'। यह उपन्यास ओडिशा के बोंडा आदिवासी समाज की कथा कहते हुए बड़ी गहराई के साथ उनकी रूग्ण परंपराओं का भी विश्लेषण करता है। बोंडा समाज एक ऐसा समाज है, जहां छोटी–छोटी बातों पर भी जहर बुझे तीर छोड़ कर अपने संगी साथी को मौत की नींद सुला दिया जाता है। इस बोंडा समाज में अपने हत्या के अपराध को छुपाया नहीं

जाता बल्कि पुलिस के समक्ष आत्मसमर्पण किया जाता है और जेल में बंद करने का आग्रह किया जाता है। ऐसा इसलिए ताकि चौदह साल तक जेल की सलाखों के पीछे जान बची रहे। प्रतिभा राय ने दिखाया है कि बोंडा समाज के पुरुष मात्र बारह – चौदह वर्ष की आयु में ही या तो किसी के तीर का शिकार बन जाते हैं या किसी को तीर मारकर जेल में तिल–तिल कर अपनी मौत का इंतजार करते हैं। उपन्यास की प्रमुख पात्र है 'लक्ष्मी टोकी'। लछमी टोकी अपने पति को खोने के बाद ऊपर–बोंडा समाज से उतर कर तल–बोंड़ा समाज जो ऊपर–बोंडा समाज से विकसित है, अपनी जगह बनाती है। वह नहीं चाहती कि उनका बेटा भी अपने पिता की तरह जीवन जिये। वह अपने बच्चों को पढ़ा लिखा कर उन्नत भविष्य देने के लिए संघर्ष करती है। प्रतिभा राय ने आठ वर्ष 1985 से 1993 बोंडा समाज के बीच बिताए थे। उन्होंने बड़ी गहराई से बोंडा समाज की छोटी–छोटी बारीकियों को समझा और उससे संवेदना के साथ चित्रित भी किया है।

आदिवासियों का जीवन चाहे ऊपर से सरल, सीधा साधा नजर आता है लेकिन उनके भीतर असंख्य शोषण, पीड़ा और दर्द की अनेकों कहानियां दबी हुई है। पिछले दिनों प्रदीप का उपन्यास आठवां रंगध्पहाड़ गाथा उपन्यास आया। इस उपन्यास में पहाड़ी आदिवासियों की अशिक्षा, अंधविश्वास, सुख–दुख और शोषण के साथ धर्मांतरण की समस्या भी है। उपन्यास में हम देखते हैं कि चर्च का अपने धर्म के लिए सेवा भाव तो है लेकिन साथ ही साथ धर्मांतरण के लिए भी प्रेरित करता है। एक ओर आदिवासी धर्म परिवर्तन करते हैं ताकि अस्पताल की सुविधाएं प्राप्त कर सकें स्कूल में शिक्षा प्राप्त कर सके, वहीं दूसरी तरफ घर में आए लोगों को हनुमान जी का चित्र लगाने और ताबीज बाँटने से रोकते भी नहीं। उपन्यास में दिखाया है कि मूल ईसाई धर्मांतरण से आए ईसाई से न सिर्फ भेदभाव रखते हैं बल्कि उनसे घृणा भी करते हैं। ऐसे में आदिवासी स्वयं को हर जगह ठगा ही महसूस करता है। आदिवासी समाज के लिए जंगल, नदियां ही उनका घर है। वह प्रकृति के के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं, उनके लिए धर्मांतरण सिर्फ नाम बदल जाना है। प्रदीप सौरभ ने उपन्यास में आदिवासियों के जीवन का गहराई और सजीवता से चित्रण किया है। ऐसा लगता है लेखक ने करीब से आदिवासी जीवन को देखा है। इस उपन्यास में भी आदिवासियों के अपनी अस्मिता के लिए और जमीन के लिए संघर्ष चित्रित है। आदिवासियों के शोषण, धर्मांतरण, दमन और यंत्रणा का यह उपन्यास प्रमाणिक दस्तावेज है।

भगवानदास मोखाल के उपन्यास 'काला पहाड़' में राजनेताओं की स्वार्थपरता और सांप्रदायिकता की आग में दग्ध होते अशिक्षित, भोले भाले आदिवासी समुदाय की कहानी वर्णित है। किस प्रकार संपत्ति और सत्ता के मोह में इन आदिवासियों की शांति और सुकून छीन जाता है, यही इस उपन्यास का कथ्य है। लेखक ने हरियाणा, उत्तर प्रदेश और राजस्थान की सीमा पर स्थित मेवात और विशेष रूप से वहां के एक गांव नगीना को अपने कथा संसार का आधार बनाया है। मंगल सिंह रचित 'छैला सन्दु' पौराणिक कथा पर आधारित उपन्यास है। लेखक ने बिहार एवं झारखंड राज्य के मुंडा समाज के एक विलक्षण व्यक्तित्व का चित्रण किया है। छैला सन्दु प्रकृति का प्रेमी, गीत संगीत में गुणी एक सांस्कृतिक चेतना संपन्न व्यक्ति था। मुंडा समाज में आज भी लोग उसे कृष्ण का अवतार मानते हैं।

श्री सुरेशचंद्र श्रीवास्तव जी के 'वनतरी' उपन्यास में बिहार प्रांत के परहिया आदिवासी जीवन और समस्याओं को उकेरा गया है। श्री सुरेशचंद्र जी ने स्वयं जंगलों में रहकर आदिवासियों के जीवन को देखा और उस समाज के बारे में ज्ञान प्राप्त किया, यही कारण है कि उनका लेखन अत्यंत सजीव और मर्मस्पर्शी है।

उपन्यास में दिखाया गया है कि आदिवासी स्त्रियों की विविध समस्याओं का कारण गरीबी और अशिक्षा ही है। शिक्षा प्राप्त करके ही आदिवासी स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकती है।

लक्ष्मण गायकवाड़ का उपन्यास 'वकील पारधी' आदिवासी जनजीवन पर केंद्रित है। यह उपन्यास मराठवाड़ा, विदर्भ और पश्चिमी महाराष्ट्र के अनेक इलाकों में अत्यंत दयनीय और शोषित जीवन जीने को बाध्य आदिवासियों की कथा कहता है। पारधी समाज उन आदिवासी समुदायों में से एक है, जिन्हें अंग्रेजों ने अपराधियों की श्रेणी में सूचीबद्ध किया था। ये वो आदिवासी समुदाय थे, जिन्होंने अंग्रेजों के द्वारा किए जाने वाले जंगलों के कटाव का विरोध किया था और बदले में उन्हें गुनाहगार माना गया था। यह उपन्यास आदिवासियों के जीवन को पूरे विस्तार के साथ उठाता है। यहां हमें तीन पीढ़ियों का चित्रण मिलता है। तीन पीढ़ियों का संघर्ष बिरडीस नामक एक पारधी मुखिया के जीवन संघर्ष को दिखाते हुए उसके पौत्र वकील पारधी तक चलता है। तीन पीढ़ियों के माध्यम से लगभग गायकवाड़ ने समूचे आदिवासी समुदाय के अंधकार, शोषण और उत्पीड़न को वाणी दी है। कैसे अपना स्वार्थ साधने के लिए इन भोले–भाले आदिवासियों की जिंदगी से खेला जा रहा है। प्रकृति और जंगल का कैसे दुरूपयोग किया जा रहा है। राजनीति, प्रशासन, पूंजीपति, व्यापारी, पुलिस, स्वयंसेवी सभी सामाजिक संस्थान, जिन्हें व्यक्ति के हित के लिए कार्यरत होना था, वे मानव हित छोड़कर अपने स्वार्थों में लीन है। वोट बैंक की तरह अपने स्वार्थ के लिए उनका इस्तेमाल किया जाता है और मतलब निकल जाने पर किसी को उनसे कोई मतलब नहीं है। इस चारों तरफ के भयंकर अंधकार के बीच वकील पारधी एक चमचमाते दीपक की तरह है, जो इस उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पात्र है। उपन्यास का नामकरण भी उसी के नाम पर किया गया है। लेखक आशावादी है वह अन्याय, शोषण को दिखला कर एक आशा की किरण भी वकील पारधी के रूप में पाठकों के समक्ष रखता है। वह ईश्वर के सामने खड़ा होकर कहता है –

"(2) हे प्रभु! मैं तुम्हें वचन देता हूं कि मैं मन लगाकर पढ़ूंगा। शिक्षा और बुद्धि के दम पर मैं बहुत बड़ा बनूंगा। मैं अपने गरीब बंधुओं की सेवा करूंगा। उन्हें मानवता और प्रेम का धर्म सिखाऊंगा। उन्हें सयाना बनाऊंगा। भूखे को अन्न, प्यासे को पानी देकर, गरीबों की सेवा ही असली धर्म है, इस बात को मैं सबको समझा दूंगा। (2)"

हम ऐसा कहते कह सकते हैं कि वकील पारधी आदिवासियों के शोषण और उत्पीड़न की हृदय विदारक प्रमाणिक प्रस्तुति है।

तेजिंदर का उपन्यास 'काला पादरी' आदिवासी अस्तित्व और अस्मिता पर आधारित है। उपन्यास का मुख्य पात्र जेम्स खाखा आदिवासी पात्र है। खाखा का अर्थ है काला पादरी। तीन पीढ़ी पहले जेम्स के पूर्वजों ने ईसाई अस्मिता को अपना लिया था लेकिन थोपी हुई अस्मिता ने जेम्स के मन में बेचैनी भर दी है। उसके भीतर के आदिवासी संस्कार उसे बार–बार आदिवासियों के बीच ले जाते हैं। तेजिंदर लिखते हैं –

"(3) वह तो कभी इस समाज का हिस्सा रहा नहीं, उसके कभी खाने की तकलीफ नहीं हुई, उसने कभी महुआ नहीं पिया, अपने समाज की मूल धारा में वह कभी शामिल नहीं हुआ, फिर क्यों वह इसके इर्द–गिर्द घूमने की कोशिश करता है। (3)"

धर्म परिवर्तन के संकट ने आदिवासी समाज की स्वायत्तता पर प्रहार किया है। आदिवासी धर्म परिवर्तन करके ईसाई, मुसलमान या बौद्ध तो बन जाता है लेकिन अपने आदिवासीपन से जुड़ाव को खत्म नहीं कर पाता। तेजिंदर ने भूख से दम तोड़ते आदिवासी का चित्रण करते हुए लिखा है –

"(4) पहले दिन जब चावल का दाना मुंह में नहीं जाता है तो लगता है कि जैसे कुछ गुम हो गया है, पर उम्मीद रहती है कि कल तक मिल जाएगा, अगले दिन भी चावल का दाना नहीं मिलता तो आस खत्म होने लगती है, पर लगता है कि चलो एक दिन और, पर तीसरे दिन के बाद सोचना पड़ता है कि चावल का स्वाद मुंह में घुलेगा भी या नहीं, आदमी उसकी गंध तक भूल जाता है। (4)"

मन मोहन पाठक के उपन्यास 'गगन घटा घहरानी है' उपन्यास में झारखंड के आदिवासी समुदाय की कथा वर्णित है। झारखंड के आदिवासी समुदाय को कैसे सामंती समाज द्वारा उत्पीड़ित किया जाता है, इसके सजीव चित्र उपन्यास में वर्णित है। उपन्यास में आदिवासियों के आर्थिक, सामाजिक सांस्कृतिक, विविध पहलुओं पर हो रहे शोषण, दमन को दिखाया गया है। उपन्यास पलामू की महाजनी सवर्ण सामंती शोषण की चक्की में पिसते उरावं जीवन की कथा इतने मनोयोग और सजीवता से वर्णित करता है जो इस हिंदी साहित्य का एक अनूठा उपन्यास बनाने के लिए पर्याप्त है। आदिवासी विमर्श की दृष्टि से भालचंद्र जोशी का उपन्यास 'प्रार्थना में पहाड़' भी अत्यंत महत्वपूर्ण दिखाई देता है। भालचंद्र जोशी ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा आदिवासियों के मध्य जिया है। उन्होंने स्वयं महसूस किया कि आदिवासी जनजीवन का एक बड़ा हिस्सा आज भी जल, वायु, भोजन और स्वास्थ्य की बुनियादी समस्याओं से जूझ रहा है। मध्य प्रदेश का 'भिताडा' नामक गांव उपन्यास के केंद्र में है। यह एक छोटी आबादी वाला आदिवासी गांव है जहां एक शराब की फैक्ट्री है। इस फैक्ट्री का विषाक्त रासायनिक अपशिष्ट एक निश्चित तिथि को प्रतिवर्ष एक नदी में छोड़ा जाता है। उस निश्चित तिथि के बाद हर साल तुरंत बारिश होने पर फैक्ट्री का जहरीला रसायन नदी के प्रवाह में बहकर दूर चला जाता है लेकिन इस वर्ष बारिश नहीं होती और गांव वाले विषाक्त जल पीने के कारण और प्यासा रह जाने के कारण एक–एक करके मरने लगते हैं। नदी पर निर्भर रहने वाले जीव जंतु भी तड़पने लगते हैं। जहां एक तरफ लोग प्यासे मरने को विवश हैं वहीं दूसरी तरफ फैक्ट्री के अरबपति मालिक, प्रशासन और नेतागण मृत्यु के इस तांडव से अपनी आंखें मूंदे रहते हैं। भालचंद्र जोशी ने दिखाया है कि फैक्ट्री का मालिक बहुत निश्चिंतता के साथ नदी के साथ खिलवाड़ करते अपने अगले प्रोजेक्ट की योजना में व्यस्त है। उपन्यासकार ने दिखाया है कि यह गांव किसी राजनैतिक दायरे में नहीं आता है। यहां के निवासी किसी मतदाता सूची में शामिल नहीं है अतः नेतागण के लिए इन आदिवासियों के जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

जयप्रकाश भारती का उपन्यास 'कोहरे में खोए चांदी' के पहाड़ देहरादून के जोनसर आदिवासियों के जीवन पर आधारित है। उपन्यास में भारती ने जोनसर आदिवासियों के रीति–रिवाजों और लोक प्रचलित विश्वासों का गहराई से चित्रण किया है। उपन्यासकार ने दिखाया है कि जोनसार बाबर आदिवासी स्वयं को पांडवों का उत्तराधिकारी मानते हैं। इस आदिवासी जाति में बड़ा भाई ही विवाह कर सकता है और अन्य भाइयों का भाई की पत्नी पर समान अधिकार होता है। बड़ा भाई एक से अधिक विवाह भी कर सकता है। उपन्यास का पढ़ा लिखा पात्र माधो सिंह ऐसी परंपरा में विश्वास नहीं रखता, वह उनका विरोध करता है। बड़े भाई बुद्ध सिंह की पत्नी को पत्नी ना मानकर, भाभी ही मानता है। बड़े भाई बुद्ध सिंह की पत्नी पार्वती इस रिवाज के कारण आजीवन यंत्रणा और संत्रास झेलती है। उपन्यास का नामकरण भी यही कहता है कि चांदी के पहाड़ अभी अज्ञानता, अंधविश्वास, गरीबी और नैतिक शोषण के कोहरे में खो गए हैं। जब तक हम इन कोहरों से जूझते नहीं, तब तक विकास असंभव है। अतः हम यह कह सकते हैं कि समकालीन आदिवासी लेखन में यहां एक ओर पीड़ा को अभिव्यक्त कर समाधान ढूंढने की चेष्टा है वहीं दूसरी तरफ अपने संसाधनों पर कब्जा जमाने के विरुद्ध विद्रोह भी है।

संदर्भ सूची

1. मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ, महुआ माझी, पृ० 28
2. वकील पारधी, लक्ष्मण गायकवाड़ पृ० 89
3. काला पादरी, तेजिंदर, पृ० 48
4. काला पादरी, तेजिंदर, पृ० 85